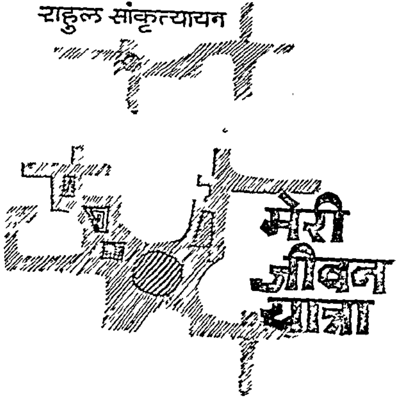
मेरी जीवन यात्रा

राहुल सांकृत्यायन



प्रथम संस्करण एप्रिल १९६७

मूल्य ८.००

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
८, फैज बाजार दिल्ली ६

मुद्रक
नवीन प्रेस,
नेताजी सुभाष मार्ग दिल्ली ६

दो शब्द

प्रस्तुत ग्रन्थ स्वर्गीय महापण्डित राहुलजी की बहुचर्चित 'जीवन यात्रा' का शेष भाग है, जिसे तीन खण्डों में प्रकाशित किया जा रहा है। प्रथम तथा द्वितीय खण्ड को पढ़ने वाले राहुलजी के पाठक शेष खण्डों के लिए भी व्यग्रता से प्रतीक्षा कर रहे थे, किन्तु लेखक की लेखनी से वर्षों पहले लिखे जाने के बाद भी यह खण्ड किन्हीं कारणों से अप्रकाशित रहा। लेखक ने अपने जीवन-काल में उसे प्रकाशित करवाने की ओर उतनी तत्परता भी नहीं दिखलाई क्योंकि वे अपने जीवन-काल में इसे प्रकाशित देखने के इच्छुक नहीं थे।

राहुलजी के देहावसान के बाद हिन्दी प्रेमियों तथा राहुल-साहित्य के पाठकों ने जीवनी के शेष खण्डों के लिए बहुत उत्कण्ठा व्यक्त की है। आज यह आपके हाथों में आ रहा है। पाठक इस ग्रन्थ की नरम और गरम दोनों प्रकार की शैली का रसास्वादन करेंगे जो राहुलजी की पुष्ट लेखनी की विशेषता रही है।

ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को आद्योपांत पढ़कर उसके प्रकाशन को सम्भव बनाने के लिए हम राहुलजी के अनन्य मित्र श्रद्धेय भदन्त आनन्द कौसल्यायनजी का कृतज्ञ होना चाहिए। ग्रन्थ को इतने सुन्दर रूप में प्रकाशित कर देने के लिए हम राजकमल प्रकाशन के आभारी हैं।

कमला सांकृत्यायन

राहुल निवास
२१, कचहरी रोड,
दार्जिलिंग

क्रम

ईरान मे

परदेश मे खाली हाथ

१९४४ के अक्तूबर के अन्त म किसी तरह पासपोर्ट पाकर मैं रूस के लिए रवाना हुआ। स्थल मार्ग ही सस्ता तथा उस वक्त निरापद था इसलिए मैंने ईरान का जार पर बनाया। बस मेरा कोई खाना पस के बल पर कभी नहीं हुआ किन्तु उसमे यह सुभीता अवश्य था, कि तन पाव पसारिए जैसा लाबी चादर' की नानि का पालन कर सकता था। युद्ध के कारण विदेशी विनिमय का मिलना बहुत मुश्किल था, जो मिलता था वह भी खर्च करने का दाम के नाम निर्देश के साथ। मुझे सवा सौ पौंड विनिमय मिला था जिसमें १०० पौंड रूस म खर्च कर सकता था और २५ ईरान म। सोचा था दस पाँच दिन तहरान म रहना होगा जिसके लिए २५ पौंड पर्याप्त होंगे, फिर तो बाजा लेकर सोवियत भूमि म चल देना है, जहाँ लेनिनग्राद विश्वविद्यालय म संस्कृत की प्रोफेसरी प्रतीक्षा कर रही है।

इस वक्त क्वेटा से ट्रेन सीधे ईरान की सीमा के भीतर जाहिदान (पुराना नाम दुज्दावपानीसार) तक जाती थी। रजाशाह ने जर्मन नाज़ियों की विजय पर विजय देखकर उदीयमान सूर्य का स्वागत करना चाहा, किन्तु जर्मन भुजायें इतनी लम्बी नहीं थी कि ईरान तक पहुँच पातीं। रजाशाह पकड़ लिए गए किन्तु अफ्रीका म नजरबन्दी कुछ ही महीनों की रही। अल्लामियों ने बेचारे को अपने यहाँ बुला लिया और उनके शाहजादे

को तख्त पर बठा दिया गया। अब ईरान क अलग-अलग भागा पर अंग्रेज
अमेरिकन और रूसी सेनाएँ नियन्त्रण कर रही थीं। जमन सना की विजय
यात्रा पराजय यात्रा म परिणत हो चुकी थी। इसी समय २ नवम्बर
(१९४४ ई०) को सवेरे ६ बजे हमारी ट्रेन जाहिदान पहुची। हम समयते
थे, पिछली दो यात्राओ की भाँति कस्टम वालो से अभी काफी भुगतना
होगा, किन्तु राज्य की असली बागडोर परदशियो के हाथ मे हो, तो ईरानी
अफसरो को बहुत परेशानी उठाने की क्या आवश्यकता? मैं अभी भी
कस्टपरीक्षा की प्रतीक्षा कर रहा था इसी समय साथ के भाई न कहा—
वह तो मीरजावा (स्टेशन) म ही खतम हो गया। स्टेशन से लारी ने नगर म
पहुँचा दिया। १९३७ से जाहिदान अब बहुत बढ गया था—युद्ध की
बरकत। भारत स कितनी ही चीजें भी इस समय इसी रास्त से रूस भेजी
जा रही थी। लारी ने एक अरक्षित सी गराज म जो उतारा था। ऐसी
कोठरी म सामान रखकर पासपोट मोटर टिकट आदि के प्रबन्ध के लिए
इधर उधर की दौड धूप करन जाना बुद्धिमानी की बात नहा थी। मैं अपन
दूसरे ही पूर्व-परिचित क ख्याल स सरदार मेहरसिह (चकवाल) क मकान
पर जा पहुँचा। अपरिचित होन पर भी बहुत प्रेम स मिले। बटे की कुड
माई (सगाई) थी सा कमरा म मिठाइया और फल की तश्तरियाँ सजी हुई
थी। मान न मान मैं तरा महमान ता मैं बनना नहीं चाहता था किन्तु
सुरक्षित स्थान म सामान रखन के लिए लाचार था।

चाजें भारत म भी बहुत मँहगी हो गई थी किन्तु यहाँ ता हमार यहाँ
का २० रुपया का बूट १०० म बिक रहा था। चीजा का दाम भारत स
चौगुना पाँच गुना था। उस पर 'जाई राम साइ राम' अलग। मैं उसी
दिन मशहद क लिए रवाना हो जाना चाहता था। दोपहर तक शहरवानी
(कानवाली) क कइ चक्कर लगाए किन्तु वहाँ पासपाट का कही पता नहीं
था। बतलाया गया, अभी बलूचिस्तान स आया ही नहीं। बार तीन क
डाक्टर गरबी न कहा—न मिल ता लारी छूटने म घटा पहिले आना मैं
तुम्हारा पासपोर्ट द दूगा। लेकिन काम इतना आसान नहीं था। किसी ने
सरदार लालसिह का पता दे दिया। उन्होंने ५० तुमान पर (तुमान=एक
रुपया यद्यपि ईरानी बक उसे एक रुपए से कुछ अधिक का मानता था)

लारी का टिकट खरीद दिया। अगले दिन (३ नवम्बर) को भी सरदार गालसिंह ने दौड धूप की, तब दस बजे पासपोर्ट मिल सका, उसके बिना जाहिदान से आगे नहीं बढ़ा जा सकता था। आदमी अतीत के तरद्दुदों को जल्दी भूल जाता है, किन्तु ईरान की बस और लारी की यात्रा तो पूरी तपस्या है—शोफर (ड्राइवर) मुसाफिर की जान माल के बादशाह हैं, जब मर्जी हुई चल पडे, जब मर्जी हुई खडे हो गए। रजाशाही कडाई हट गई थी, इसलिए फिर सडको पर बुर्का (पर्दा) आम दिखाई देता था, कितनी ही पगडियाँ भी दिखलाई पडती थीं यद्यपि हैट बिल्कुल उठ नही गई थी।

लारी आठ बजे रात को चली। हमारी लारी मे ३१ बल्ती (काश्मीर) तीर्थयात्री भी थे जो तिब्बती भाषा ही बोल सकते थे। मुझे कभी कभी दुभाषिया भी बनना पडता था, वैसे अपनी प्रभुता से वह २६ तुमान मे ही लारी का टिकट पा गए थे। तकलीफ भी बडे महगे भाव मोल लेनी पडी थी। नंगी पहाडियो की मानमून-वचित भूमि थी। सडक बनाने की सामग्री सब जगह मौजूद थी किन्तु सडको का भाग्य युद्ध न हो खोलता था। चार बजे रात तक लारी चलती गई फिर दो घटे के लिए खडी हो गई। हम लोग बैठे-बैठे ऊँघे। सर्योदय को फिर चले। चाय के लिए एकाध जगह जरा देर ठहरते। एक बजे दिन को निरजन्द पहुँचे। मील डेढ मील आगे जाने ही लारी बिगड गई एक बार तो निराशा छा गई किन्तु घटे भर बाद वह फिर चलने हो गई। रातो रात मशहद पहुँचने की बात थी, लेकिन ड्राइवर पर नींद सवार हो गई हमारे दम मे दम आई, जबकि दो बजे रात (५ नवम्बर) को उसने गुनाबाद मे विश्राम लेने का निश्चय किया। वह १० बजे दिन तक सोता रहा। फिर बल्ती यात्रियों ने बाकी किराए के लिए झझट शुरू हो गया उन्होने कुछ सुन रखा होगा। बहुत सुनने २७ ने दोपहर तक किराया चुकाया, फिर लारी आगे बढ़ी। लारी पर यह तीसरा दिन था। एक एक बार के खाने पर साढे तीन रुपए खर्च हो रहे थे।

अँधेरा हो चला था। दूर मशहद नगर के चिराग दिखाई देने लगे। ड्राइवर ने यात्रियो को चिल्लाकर कहा—' शाहिद (कमीनर) का चिराग दिखाई की दक्षिणा दो। ड्राइवर मानो साथ ही साथ पडा भी था। लेकिन गरीब बल्तियो न बडी कमाई की कमाई म से कुछ बचाकर मशहद

शरीफ में इमाम रजा की समाधि के दर्शन के लिए यह यात्रा की थी। चीजों का दाम भी महँगा था, फिर वह कैसे हर जगह दक्षिणा देते फिरते? उनके इन्कार करने पर शोफर ने 'बहुत जानवर बनरी' जाने क्या-क्या उपाधियाँ उन्हें दे डालीं। एक जगह रूसी सैनिक ने लाल रोशनी दिखा गाड़ी खड़ी करा दी। फिर चलकर नौ बजे रात को हम मशहद शरीफ पहुँचे। पन्द्रह तुमान और सामान का देना पड़ा। दो एक जगह भटकने पर जब होटल में जगह नहीं मिली तो पंडाजी मूसा साहिब के प्रस्ताव को स्वीकार करना पड़ा। दुरश्की (फिटन) ने चार तुमान और मजूर ने दो तुमान लेकर गली में पंडाजी के घर पर पहुँचा दिया। हर जगह के पंडों की भाँति यहाँ के पंडे भी यजमान के आराम का ख्याल रखते हैं और तुरन्त ही सारे मन के अन्दाज को निकलवाने की बात न करने पर भी अधिक से अधिक दक्षिणा पाने की कोशिश करते हैं। मैंने कह दिया—यथाशक्ति तथाभक्ति।

सवेरे (८ नवम्बर) रूसी कौंसल के पास गया। सोचा कहीं यहीं से अश्काबाद होकर वीज़ा मिल जाए तो दिक्कत से बच जाऊँ, किन्तु वह वहाँ होने वाला था। रुपए के रूप में लाए सिक्के खतम हो गए थे। अब ईरान में खर्च करने के लिए प्राप्त २८ पौंडों पर हाथ डालना था। १० पौंड के बदले बैंक शाहंशाही से १०८ तुमान मिले, जिसमें ७५ तुमान तो तेहरान की बस का किराया देना पड़ा, तीन तुमान मूसा साहेब को और साढ़े चार तुमान मजूरों को भी। पैसों के पर उग आए थे, उड़ते देर नहीं लग रही थी। सूर्यास्त के समय बस रवाना हुई। ७ नवम्बर के दिन और रात चलते रहे। जलाली गाँव में बारह बजे रात को आराम के लिए ठहरे। उताक (कमरे) का किराया दो तुमान (रुपया) दे दिया, लेकिन पीछे पिस्सुओं से परास्त हो बाहर लेटना पड़ा।

सवेरे फिर चले। समनान की मस्जिद का पता नहीं था, अब तो वहाँ बड़े-बड़े पक्के घर खड़े थे, पहाड़ जो निकट आया था। रेल भी आ गई थी, किन्तु हम तो बस ही से तेहरान पहुँचना था। दोपहर बाद हाजियाबाद में हमारी चौकी आई। सोवियत कौंसल का दिया पास यहाँ दे दिया। पास लेने वाला रूसी सैनिक बहुत भला था, यद्यपि वहाँ बात उसके लिए परि-याई साथी की नहीं थी।

हमारी बस में अधिकतर यात्री तबरेजी तुर्क थे जिनमें टोपीवालों से पगड़ीवाले अधिक थे। साथ में कारतूस मालाधारी एक सरकारी अफसर साहब थे जो अपने तिरियाक (अफीम) को बड़े निगाव के साथ पीना पसन्द करते थे—कानून के बाहर जो थे। २० ३२ किलोमीटर तहरान रह गया था जब कि उनका तिरियाक पकड़ा गया। पहिले उन्होंने कुछ रोब दिखलाना चाहा किन्तु उसमें कुछ बनने वाला नहीं था। बस रुकी रहा। कारतूस मालाधारी अभिमान के पुतले तिरियाकी साहब ने ५०० तुमान रिश्वत के गिन दिए और साथ ही उन्हें अफीम से भी हाथ धोना पड़ा, फिर जाकर छुट्टी मिली। हम सात बजे रात को ईरान की राजधानी (तिहरान) में पहुँचे।

पहिले तो यहीं पर रहने की जगह बनाना थी, फिर सोवियत वीजा की फिकर में पड़ना था। खियाबान सड़क पर ५ कहके कर ६ तुमान रात का एक कमरा मुसाफिरखाना तहरान में मिला। उसी रात पता लगा यहाँ २० तुमान (रुपया) रोज से कम खर्च नहीं पड़ेगा, और हमारे पास थे केवल १५ पौंड या १९२ तुमान अर्थात् सिर्फ कम दिन की खर्ची। बस से यहाँ पहुँचने वाले एक सहयात्री अभी और आशा बाँधे हुए थे। अगले दिन ५ तुमान देकर उनसे पिंड छुड़ाया।

अगले दिन हम्माम कोरखी के पास कूचा उन्सरी में अपने पूर्वपरिचित आगा अमीर अली दीमियार से मिलने गए। दो ही साल में कितने बूढ़े मालूम होने लगे! फिर सोवियत कौंसल के यहाँ गए। कहा गया—पहिले अंग्रेजी दूतावास की सिफारिशी चिट्ठी लाओ फिर बात करो। मनमार पहुँचे अंग्रेजी दूतावास में और भारतीय विभाग के मुखिया मिस्टर रज्जा के सहायक रिज्वी साहब से मिले। रिज्वी प्रयाग (इलाहाबाद) के रहने वाले थे, इसलिए प्रयागभाई और नगरभाई के तौर पर बड़े प्रेम से मिले। आगे सात महीना तक उनका बराबर सौहार्द रहा। उन्होंने सोवियत वीज़ा का मिलना आसान नहीं बतलाया।

हमारे सामने बड़ी समस्या थी—१६२ तुमान और रोजाना २० तुमान का खर्च! यहाँ अध्यापक एक बार महाशय बैठे थे, उनसे भी परिचय हो गया। यह स्वयं जाती बीबी-बच्चों (ईरानी) लिवा लाए थे।

शरीफ म इमाम रजा की समाधि क दर्शन के लिए यह यात्रा की थी, चीजो का दाम भी महगा था फिर वह कम हर जगह दक्षिणा देते फिरते ? उनके इनकार करने पर नौकर ने "वहशी जानवर, बवरी जाने क्या-क्या उपाधियां उन्हे दे डाली। एक जगह रूसी सनिक न लाल रोशनी दिखा गाडी खडी कराई फिर चलकर नौ बजे रात का हम मशहद शरीफ पहुँचे। प द्रह तुमान और सामान का दना पडा। दो एक जगह भटकने पर जब होटल म जगह नहीं मिली, तो पडाजी मूसा साहिब क प्रस्ताव को स्वीकार करना पडा। दुरेस्की (फिटन) न चार तुमान और मजूर ने दो तुमान लेकर गली म पडाजी क घर पर पहुँचा दिया। हर जगह क पडा की भांति यहा के पडे भी यजमान क आराम का ख्याल रखत हैं और तुरन्त ही सामान के अडा को निकलवाने की बात न करने पर भी अधिक से अधिक दक्षिणा पाने की कोशिश करते है। मैंने कह दिया—यथाशक्ति तथाभक्ति।

सवेरे (६ नवम्बर) रूसी कौसल के पास गया। सोचा कहा यहीं से अशकाबाद होकर बीजा मिल जाए, तो दिक्कत से बच जाऊ किन्तु वह कहाँ होने वाला था। रुपए के रूप म लाए सिक्के खतम हो गए थे अब ईरान म खच करने क लिए प्राप्त २५ पौडो पर हाथ डालना था। १० पौडो के चक के बदले शाहनाही मे १२८ तुमान मिल जिसम ७५ तुमान तो तहरान की बस का किराया दना पडा तीन तुमान मूसा साहब का और साढे चार तुमान मजूरो को भी। पैसो क पंख उग आए थे उनको उडते देर नहीं लग रही थी। सूर्यास्त क समय बस रवाना हुई। ७ नवम्बर के दिन और रात चलते रहे। अत्तारा गाव म बारह बजे रात को आराम के लिए ठहरे। उताक (कमरे) का किराया दो तुमान (रुपया) द दिया, लेकिन पीछे पिस्सुओ स परास्त हो बाहर लेटना पडा।

सवेरे फिर चले। समनान का मन्दिर का पता नहीं था अब तो वहाँ बडे-बडे पक्के घर खडे थे पट्रोल जो निकल आया था। रेल भी आ गई थी, किन्तु हम तो बस ही से तहरान पहुँचना था। दोपहर बाद हाजियाबाद म रूसी चौकी आई। मालियत कौमर ने दिया पास यहाँ दे दिया। पास लेने वाला रूसी सनिक बहुत रूखा था यद्यपि वहां वाले उसके लिए मिठाई साथ ला रहे थी।

हमारी बस में अधिकतर यात्री तब्रेज़ी तुर्क थे, जिनमें टोपीवालों से पगड़ीवाले अधिक थे। साथ में कारतूस-मालाधारी एक सरकारी अफसर साहब थे जो अपने तिरियाक (अफीम) को बड़े दिमाग़ के साथ पीना पसंद करते थे—कानून के बाबा जो थे। २० २२ किलोमीटर तहरान रह गया था, जब कि उनका तिरियाक पकड़ा गया। पहिले उन्होंने कुछ रोब दिखलाना चाहा, किन्तु उससे कुछ बननेवाला नहीं था। बस रुकी रही। कारतूसी माला डाले अभिमान के पुतले तिरियाकी साहब ने ५०० तुमान रिश्वत के गिन दिए और साथ ही उन्हें अफीम से भी हाथ धोना पड़ा, फिर जाकर छुट्टी मिली। हम सात बजे रात को ईरान की राजधानी (तहरान) में पहुँचे।

पहिले तो रही पर रहने की जगह बनानी थी, फिर सोवियत वीज़ा की फिकर में पड़ना था। चिरागबर्क सड़क पर ५ कहकर ६ तुमान रात का एक कमरा 'मुसाफिरखाना तहरान' में मिला। उसी रात पता लगा यहाँ २० तुमान (रुपया) रोज़ से कम खर्च नहीं पड़ेगा, और हमारे पास थे केवल १५ पौंड या १६२ तुमान अर्थात् सिर्फ दस दिन का खर्चा। बस से यहाँ पहुँचने वाले एक सहयात्री जमा और आगा बाँधे हुए थे। जाते दिन ८ तुमान लेकर उनसे पिंड छुड़ाया।

अगले दिन इस्लाम कारची के पास कूचा सरी में अपने पूर्वपरिचित आगा अमीर अली दामियाद से मिलने गए। दो ही साल में इतने बूढ़े मालूम होने लगे! फिर सोवियत कौंसिल के यहाँ गए। कहा गया—पहिले अंग्रेज़ी दूतावास की सिफारिशी चिट्ठी लाओ फिर बात करो। लाचार पहुँचे अंग्रेज़ी दूतावास में और भारतीय विभाग के मुखिया मेजर नक़वी के सहायक रिज़वी साहब से मिले। रिज़वी प्रयाग (शाहगंज) के रहने वाले थे, हमसे बड़ा भाईचारा और व्यक्तिगत तौर पर बड़े प्रेम से मिले, अगर सात सप्ताह तक उनका बस हो सौगन्द रहा। उन्होंने सोवियत वीज़ा का मिलना आसान नहीं बतलाया।

हमारे सामने बड़ी समस्या थी—१६२ तुमान और रोज़ाना २० तुमान का खर्च! वहाँ अगाशी एक और महाशय बैठे थे, उनसे भी परिचय हो गया। वह स्वयं अपने बीबी-बच्चों (ईरानी) लिवाने आए थे।

महीनों बीत जाने पर भी कही कूल किनारा नही देख पा रहे थे। मेरी चिन्ता म उन्होंने बडी सवेदना प्रकट की। रास्ते म उन्होंने अपने ३० तुमान मासिकवाले कमरे को मेरे हवाले करने का प्रस्ताव किया। मैंने सोचा १५० की जगह मकान का ३० ही तो हुआ। उन्ही के साथ टैक्सी म सामान रखवा के मैं ख्याबान फरिश्ता के उस घर म चला आया। दोमियाद साहब का मकान भी पास ही था यह प्रसन्नता की बात थी। यद्यपि १६२ तुमानो के १५ पौड के चेक तथा आगे के अनिश्चित समय को देखकर हृदय-कम्पन दूर नही हुआ था किन्तु इतना तो समझ गए कि अब २० तुमान से कम शायद १० तुमान म ही रोज का खर्च चल जाए। ९ नवम्बर की रात को बहुत इतमीनान से सोए। अब्बासी अपनी ससुराल मे रहते थे वह वहाँ चले गए।

अगले दिन चिन्ता दुगने जोर से बढी जब मालूम हुआ कि अब्बासी ने दो महीने का किराया मकान मालकिन को नही दिया है तो भी दुनिया बा-उम्मीद कायम।' हम हिसाब बाध रहे थे "रोज डेढ तुमान रोटी मक्खन खजूर पर गुजारा और इन्सान के बेटे पर भरोसा। चार तुमान रोज से ज्यादा नही खर्च करना होगा। १६० तुमान म १० दिसम्बर तक चलाएँगे। तब भी ३२ तुमान बच जाएँगे। अगूठी और रिस्टवाच की जजीर के तीन तोले सोने पर तीन मास और रुपया देंगे। १० फरवरी तक यहाँ इन्तिज़ार कर सकते हैं। वीज़ा न मिला तो? भविष्य प्रकाशमान नही था।

अगले दिन (११ नवम्बर) १० पौंड भुनाना जरूरी था। अब्बासी का १५ तुमान उधार था, भुनाकर १२८ म स अब्बासी को १५ देने लगा तो उन्होंने ५० तुमान किसी जल्दी के काम के लिये माग लिये और मैंने सहज भाव से दे दिये। अब हाथ म ६३ तुमान तथा ५ पौड का चेक रह गया। वीज़ा के बारे म दौड धूप करने पर उस दिन की डायरी म लिखना पडा अपने बारे म तो अभी आशा की किरण नही दिखलाई पडती।

डेढ तुमान रोज पर गुजारा करने का निश्चय कर चुका था किन्तु (१२ नवम्बर) को तीन तुमान गर्माबा (स्नानागार) को दे देना पडा। १३

नवम्बर तक अब्बासी से परिचय चार दिन का हो गया था और उनके बड़ दोष-गुण मालूम हो गये थे। उनको दिए पचास तुमानों के लौटने की आशा नहीं थी, ऊपर से दो मास के बाकी किराये के ६० तुमान के लेनदार भी बनते जा रहे थे। लेकिन अब्बासी का दूसरा भी पहलू था, जिससे वह सच्चे मानवपुत्र जचते थे। वह बहुत अधिक नहीं बोलते थे साथ ही वह सत्यभाषी भी नहीं थे। 'न ह्येक अपि सत्य स्यात् पुंसि बहुभाषिणी'' के अनुसार उनकी बातों में बिल्कुल सत्य का कोई अंश नहीं था यह बात नहीं थी तो भी उस जंगल में से सत्य को ढूंढ़ निकालना मुश्किल काम था। यदि ६ नवम्बर को अब्बासी मिले थे तो अगले दिन आगा दामियाद के यहां दूसरे मानवपुत्र मिर्जा महमूद अस्पहानी से भी परिचय प्राप्त हुआ।

तेहरान में

मैं सन् १९४४ के जाड़ा में तहरान पहुचा था। ७ नवम्बर (१९४४) से २ जून (१९४५) तक वहीं इस आशा में पड़ा रहना पड़ा, कि बीजा मिले और सोवियत के लिए रवाना हो जाऊँ। यद्यपि यह आवश्यक तथा बहुत कुछ दुभर प्रतीक्षा थी, लेकिन करता तो क्या करता? सोवियत बीजा तभी मिला, जब यूरोप में युद्ध समाप्त हो गया और जर्मनी ने हथियार डाल दिया लेकिन इस मास महान की प्रतीक्षा को बिल्कुल बेकार भी नहीं कहा जा सकता। तहरान उस वक्त बड़ा अन्तरराष्ट्रीय अखाड़ा ही नहीं राजनीतिक बल्कि सैनिक अखाड़ा भी था। राजनीतिक अखाड़ा बल्कि तब नहीं कहा जा सकता था क्योंकि इरान के बिल्कुल अमरिका के हाथ की कठपुतली हो जाने के कारण मेल बराबर पर नहीं हो रहा था।

तहरान मेरे देखते देखते बहुत बढ़ गया। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद वह पुराने ढंग का कुछ ही अधिक था पुराने ढंग का नगर था। उसकी गलियां तंग और अँधेरी थी। चौड़े रास्तों का ही सड़क कहा जाता था, पक्की सड़को का उस समय कहीं पता नहीं था। १९३५ में जब पहले पहल मैं तहरान पहुँचा तो बहुत से लोगों में कुछ ऊपर का नक्शा था। सड़कें चौड़ी, सीधी और पक्की हो चुकी थी। सड़कों पर विशेष कर अलाउद्दीन ख्याबां में

आधुनिक ढग की इमारत खडी थी। १९३७ की द्वितीय यात्रा में शहर का आकार काफी बढ गया था भारत से लौटे मेरे ईरानी मित्र आगा दीमियाद ने अपना मकान शहर के छोर पर बनवाया था जहा आसपास बहुत-सी खाली जगह पडी हुई थी। ७ बरस बाद तीसरी यात्रा में अब उनका मकान घनी बस्ती के भीतर था और आबादी ७ ८ लाख से ऊपर हो चुकी थी जिसमें मित्र शक्तियो की सेनाए और वृद्धि कर रही थी। यद्यपि अंग्रेजी अमरिकन और रूसी सेनाओ के रहने के लिये शहर से बाहर अलग अलग स्थान नियत थे किन्तु तो भी सेना का शहर से सम्बन्ध तो था ही। साधारण नही तो असाधारण शौकीनी की चीज खरीदने के लिए सैनिकों का वहा जाना पडता था। सिनेमा और दूसरा मनोरंजन की सामग्री भी वही थी। सडको पर अपने-अपने ढग की वर्दियाँ पहिने सैनिक घूमा करते थे।

ऊँचे स्थानो की राजनीति तो यही थी कि रजाशाह—जिसे नये ईरान का निर्माता कहा जाता है—जर्मन नाजियो का पक्षपाती था। उसने मुल्लाओ की धर्मान्धता के विरुद्ध ईरान के जातीय अभिमान को खडा किया। हरेक रजाशाही इरानी तरुण अरबी और अरबी सस्कृति पर ४ लात लगाकर अपने को कौरोश और दारयोश के आर्यत्व का उत्तराधिकारी मानने लगा। हिटलर के आर्यत्व के प्रचार के पहिले ही रजाशाह ने अपने यहा उसकी ध्वजा गाड दी थी इसलिये कोई आश्चर्य नहीं यदि हिटलर की नाजि के साथ इरान ने भी अपना नाता जोड लिया। लेकिन यह नाजि का जोडना केवल आर्यत्व को मानने के कारण नहीं हुआ। जर्मनी ने जिस तरह यूरोप के प्राय सारे भाग को हडप कर अफ्रीका की ओर पर फैलाया था उससे रजाशाह को विश्वास हो गया था कि अब की विजय जर्मनी की होगी। इसलिये उसने उगते सूर्य को नमस्कार करना चाहा। चाहे इगलैण्ड और अमरिका अभी अफ्रीका में हिटलर के बढाव को न रोक सकते हो किन्तु रजाशाह को रोकने के लिये हिटलर की बाहे अभी उतनी बडी नहीं था इसलिये एक ही धावे में मित्र शक्तियो की सेनाओं ने इरान को अपने अधीन कर लिया। रजाशाह को उन्होंने बन्दी बना उसे दक्षिण अफ्रीका भेज दिया। रजाशाह ने एक साधारण कुल परिवार से बढकर एक राजवंश

की स्थापना की इसलिए उसका गद्दी से वंचित होना कोई बडी बात नहीं थी लेकिन उसका लडका (वर्तमान शाह) तो शाहजादा था। हिटलर को हराने के लिए रूस को सहायता की आवश्यकता भलेई मालूम होती हो किन्तु इंगलैंड और अमेरिका रूसी राज व्यवस्था को छूत की बीमारी समझते थे। जिस समय जर्मन सेना रूस के भीतर बढ रही थी उस समय रूस इस स्थिति में नहीं था कि अपनी किसी बात के लिए जिद करे। ब्रिटिश तथा अमेरिकन साम्राज्यवादी सिर्फ उस समय होती लडाई को जीतने की ही फिक्र में नहीं थे, *बल्कि युद्ध के बाद में अपने साम्राज्य की भी चिन्ता करते थे।* इसलिए वह किसी तरह का भारी हरफेर नहीं होने देना चाहते थे। इस प्रकार रजाशाह युद्ध का भेंट हुआ किन्तु उसका राजवंश बचा दिया गया।

तहरान की सडकों पर सैकडों की तादाद में घूमते इन विदेशी सैनिकों को देखकर मालूम हो जाता था कि ईरान अपने वश में नहीं है। लेकिन जहाँ तक रात रात के शासन का सम्बन्ध था वह ईरानियों के ही हाथ में था। रजाशाह की हुकूमत एक तानाशाही या आभिजात्य तानाशाही हुकूमत थी। उसमें साधारण जनता या साधारण बुद्धिजीवियों को अपनी आवाज बुलन्द करने का कोई अधिकार अथवा अवसर प्राप्त नहीं था। सारे देश में खुफिया पुलिस का जाल बिछा हुआ था। ईरानी स्त्री-पुरुष देश के भीतर भी एक जगह से दूसरी जगह जाने गिरफ्तार होते रहते, यदि उनके पास अपने चित्र सहित जवाज (पासपोर्ट) न रहता। एक तरफ रजाशाह ने इस तरह सारे देश को जकड रखा था—जिससे उसके शत्रुओं का पूरा उच्छेद सा हो गया था— लेकिन दूसरी ओर वह कभी-कभी अपनी निर्भीकता को भी दिखलाना चाहता था। १९३७ में एक बार मैं सरकारी सचिवालय के पास से जाने वाली सडक पर जा रहा था उसी समय एक कपडे के टुकवाला साधारण मोटर पर ड्राइवर के पास बैठे एक आदमी को जाते देखा। तस्वीर द्वारा मैं चेहरा परिचित था, इसलिए मुझे समझते देर न लगी कि रजाशाह की सवारी जा रही थी। यद्यपि आसपास और सिपाही होते थे। उधर गौर से देखते तथा आला हजरत का नाम लेकर इशारा करते देखा। अब भी जवाज आदि के सम्बन्ध में रजाशाही

कानून का ही पालन हो रहा था किन्तु युद्ध ने बहुत सी बँधी हुई मुट्ठी को खोल दिया था। २० २० बरस तक जल में सड़ के अनेक दल भवन बाहर निकल आये थे। सोवियत की सेनायें पास में मौजूद थी, जिनसे मजूरों और बुद्धिजीवियों का साहस बढ़ गया था। उनका सगठन तूदे (जनता) बहुत मजबूत होता जा रहा था। बुद्धिजीवियों पर उसका प्रभाव था—आज तूदा अवैध संस्था है। साम्यवादी असर को बढ़ते देखकर भी ऐंग्लो-अमेरिकन साम्राज्यवादी युद्ध के वक्त उसे दबाने के लिए सर्वथा सुरक्षित बनाना चाहा लेकिन सोवियत के कारण उन्हें साहस नहीं हो रहा था। ईरानी आजुर्बायजान—काकेशस पर्वतमाला तथा कास्पियन समुद्र के बीच में अवस्थित विशाल आजुर्बायजान का ही एक अंग है। इसका उत्तरी भाग अर्थात् सोवियत आजुर्बायजान एक स्वतन्त्र प्रजातन्त्र के तौर पर सामूहिक खेती और उद्योग धंधों से सम्पन्न सुनिश्चित राष्ट्र हो गया है जबकि ईरानी आजुर्बायजान सब तरह से पिछड़ा हुआ प्रदेश था। युद्ध के समय सोवियत के नागरिकों के साथ साक्षात् सम्पर्क हुआ। उन्होंने देखा कि सोवियत सेना में किस तरह आजुर्बायजानी, तुर्कमान उजबेक काजाक, रूसी या उक्रनी सभी एक समान पूर्ण बन्धुता के साथ रहते हैं। इसका असर इन पर पड़ना जरूरी था। ईरानी आजुर्बायजान ने स्वतन्त्रता की माँग नहीं की बल्कि अपना स्वायत्त शासन स्थापित कर लिया जिसे अमेरिका की मदद से ईरानी सरकार ने बड़ी बुरी तरह से दबा दिया। जब देख लिया कि सोवियत राष्ट्र युद्ध को आगे बढ़ाने का कारण नहीं बन सकता, तो अमरिका की शह में पड़कर ईरानी सरकार ने सभी तरह के वामपक्षी सगठनों को नष्ट करने का निश्चय कर लिया। आज जिन सगठनों को लुक छिपकर ही काम करने का मौका मिलता है उस समय उन में जान थी।

मित्र शक्तियों के सैनिकों के सम्बन्ध में ईरानियों की क्या राय थी इसके बारे में मैं एक ईरानी भद्र महिला की बात सुनाता हूँ। उनके पिता भारत में कई साल से रहते थे, और शायद अब भी यहाँ है। अपनी शिक्षा-दीक्षा से उक्त महिला को अर्ध भारतीय कहा जा सकता है। वह कह रही थीं—जिस फुटपाथ पर मैं चल रही हूँ अगर उसी पर सामने से अमरिकन या ब्रिटिश सैनिक आता दिखेगी तो मैं फौरन हट उस छोर पर दूसरा ओर

कि फुटपाथ से चलने लगूंगी, लेकिन अगर सामने से कोई रूसी सैनिक आता हो, तो मैं जरा भी नहीं हटूंगी। मैंने कहा—तब तो आप उससे धक्का देती चली जायेंगी। महिला ने हंसते हुए कहा—हां बिलकुल ठीक है, धक्का लग जाने पर भी कोई डर की बात नहीं है। रूसी सैनिकों के बारे में वहां तरह-तरह की दन्त-कथायें प्रचलित थी। एक दिन भारत में आए एक दूसरे ईरानी विद्वान की वृद्धा पत्नी कह रही थी—हम लोग माज़न्दरान के रहने वाले हैं, जो रूसी सीमा के पास है। वहां रूसी सैनिक छावनियां डाले पड़े हुए हैं। एक बात उनके बारे में अभी सुनी किसी रूसी सैनिक ने किसी के बाग से बिना पूछे बिना दाम दिए एक सेब तोड़ लिया था, जिस पर उसे सरे-बाजार कोड़ा लगाने की सजा हुई थी। क्या यह अति नहीं है? मुझे इस घटना की सत्यता-असत्यता का क्या पता था कि जवाब देता। लेकिन रूसी सैनिकों को लोग भ्रष्ट होने की सीमा से परे समझते थे। अमरिकन सैनिक दोनों हाथ से पैसे लुटाते थे। ईरानी और उनमें भी ज्यादा रूसी क्रांति के वक्त भागे श्वेत रूसी तो समझते थे कि उनके पास आने का मान है। पहिले महीने-दो महीने तक जिस घर में मैं रहता था उसके पास के कमरे में एक श्वेत रूसी वृद्धा अपनी तरुणी पुत्री के साथ रहती थी। उनके यहां जब-तब कोई अमरिकन सैनिक आता रहता था। वह तो मना रही थीं, कि मेरी लड़की किसी अमरिकन के साथ ब्याह कर लेने का सौभाग्य प्राप्त करे तो भाग्य खुल जाएं।

तेहरान में भारतीय सैनिक भी कई हजार थे। प्रथम विश्व-युद्ध के समय भी ईरान में कहीं-कहीं भारतीय सैनिक रहे थे, किन्तु तब भारतीय केवल सिपाही भर थे। अब तो कितने ही कप्तान, मेजर और कर्नल थे। लेकिन अभी हिंदुस्तान अंग्रेजों का गुलाम था, इसलिए भारतीय सैनिकों के प्रति किसी का कोई भाव-दुर्भाव नहीं था। उनका वेतन भी कम था, इसलिए पैसा खर्च करने में उतनी मुक्तहस्तता नहीं दिखला सकते थे, जितने कि अंग्रेज और अमरिकन सैनिक।

युद्ध ने सभी जगह चीजों का भाव बढ़ा दिया था। भारत में भी रुपये का दो सेर आटा हो गया था, १० रुपये के जूते २० रुपये में बिक रहे थे, लेकिन तेहरान में तो वह जूता सौ पर भी नहीं मिलता। वहां सभी चीजें

बहुत मँहगा थी। १९ ७ म दा आना या छ पैसा सर बढ़िया अंगूर बिकता था और अब वह उसी भाव बिक रहा था जिस भाव म बम्बई या लाहौर म। खाने की चीजें भी बहुत मँहगी थी। विदेशी सेनाये अपने देश म पैसा मगाकर यहा खर्च कर रही थी इसलिए पैसा की कमी नही थी। रोजगार की भी कमी नही थी। सनिका क उपयोग की भी बहुत-सी चीजें बाजार म चली आती थी। बस ब्रिटिश अमरिकन फ्रच, भारतीय सभी देशा क उन सिगरट मिलत थे। सिनमा खोलन म तो इन देशा न एक दूसर स होड सा लगा रखी था। कितन हा सिनमाघरा का अमरिकनो न किराये पर ले लिया था जहा उनक फिल्म चलत थ। अँग्रेजा वे भी दो या तीन सिनेमा चल रह थ। रूसा भी अपना सिनमा हाल खोले हुए थे। भारत ने अपनी ओर स कोइ सिनमा नहीं खोला था क्याकि भारत की उस वक्त पूछ ही क्या थी लेकिन हमारे यहा क फिल्म तहरान म कई सिनेमाहाला म दिखाय जात थ और वह होते थे ज्यादातर पिस्तौलवाला" हण्टरवाली टाइप क। यद्यपि इस तरह क फिल्मा को देखन क लिए और जगहा स अधिक भीड रहती था किन्तु भारत क लिए वह गौरव का बात नही थी।

अकारण बन्धु

८ नवम्बर १९४४ की शाम को करीब कगाव खाली हाथ मैं ईरान की राजधानी तहरान म बडा आशावान पहुँचा था। सोचा था जल्दी ही सोवियत वीजा मिल जायगा और मैं लेनिनग्राद पहुच जाऊँगा। उस वक्त कहाँ मालूम था कि जून १९४५ का प्राय सात महीने बाद म तहरान से आग बढ सकगा। तहरान म जो प्रथम भारतीय मित्र मिले थ उनका असल नाम तो था अभयचरण किन्तु वह बन थ अब्दुल्लाह या मुकम्मलशाह जन्नामी। उस गाढ क समय हाथ म बचे कुछ तुमानो म स भी कितने ही का बात धनातर गठ उन से उनके बार म काई निर्णय कर बठना भारी गलती होगा। उनम परस्पर विरोधी प्रवृत्तिया का अद्भुत सम्मिश्रण था। कभी वह साक्षात्-करुणापूर्ण देवता बन जात थ और कभी उनका रूप कुत्सित शैतान जैसा मालूम होता था। उनक बार म आग कहूँगा। पहिली यात्रा क परिचित वृद्ध आगा अमारतली दीमियाद हमार उस घर म नजदीक ही

थ नियम कि जत्रासी ने मुझे ल जाकर दिखाया था और जिसके बारे में आगे मालूम हुआ, कि महीना का बाकी किराया अब मुझे चुकाना पड़ेगा। ६ तारीख का ही दौड़ धूप करने में पता लग गया, कि यात्रा इतनी जल्दी मिलने वाली नहीं है। उसी दिन दीमियान साहब से मिल आया था। १० नवम्बर को ८८ घंटा तहरान में रहने के बाद अब अपनी आर्थिक कठिनाइयां सामने नगी नहीं मालूम हो रही थी। घबराने से कोई लाभ नहीं था, किन्तु कहीं से भी आशा की किरण दिखलाई नहीं पड़ती थी। मैं १० नवम्बर को सवेरे दीमियान साहब के घर गया था। वहां एक हंसमुख प्रौढ़ गोरे चेहरे वाले पुरुष से मुलाकात हुई। उनकी बड़ी आंखों में एक तरह की विशेष चमक दिखलाई पड़ती थी जिससे स्नेह और बुद्धि दोनों का आभास मिलता था, दीमियान साहब उनकी लड़की ताहिरा और उनके सज्जन (मिर्जा महमूद असफहानी) से दो घंटे तक बातचीत करते मैं अपनी सारी चिन्तायें भूल गया था। उन्हीं के साथ मैं सबेरे मुहम्मद उर्फ़ी 'दारुल इस्लाम' के घर गया। दारुल इस्लाम बहुत सालों से हैदराबाद में रहते थे, जहां रहकर उन्होंने फरहंग निज़ाम नामक एक फारसी कोश लिखा था। उनकी तीन लड़कियां यद्यपि ईरान के पलायन के कारण जल्दी पितृदेश में आ गई थीं किन्तु उनमें हिन्दुस्तानियत की बू ज्यादा अधिक थी कि वह ईरानी बन जाने के लिए तैयार नहीं थीं। दो बड़ी लड़कियां में एक एम० ए० और दूसरी एम० एस० सी० थीं। छोटी जूनियर कम्ब्रीज पास थी। पिता का मकान हैदराबाद में भी था, किन्तु वह चाहते थे अपनी लड़कियों का ब्याह ईरानियों में करना। मिर्जा महमूद ईरानी हिन्दुस्तानी थे इसलिए वह दामाद बनाने के योग्य थे। लड़की हिन्दुस्तानी बोली भूल गई थी, इसलिए वह शादी करना चाहते थे, किन्तु वह लड़की में नहीं जिसे कि हमेशा लगा पूरा सौ रहने थे। वह गरम मिजाज वाले ईरान वाली भाषा भाषा तथा रूप में भी कुछ कम लगा। महमूद को क्या पसन्द आने लगी? दोनों दोनों में ग रिश्ता न साथ विवाह करने को वह तैयार थे, किन्तु पिता अपनी जैसी कन्या को कुमारी रख कर दूसरी का विवाह करने के लिए तैयार नहीं थे। अन्त में उन्हें मझली कन्या का विवाह पहिले करना पड़ा, और महमूद को भी

इच्छा या अनिच्छा से अपनी सौतेली माँ की छोटी बहन के साथ निकाह कराना पड़ा।

उस दिन हम दोनों आठ-दस घन्टे साथ-साथ रहे। आठ-दस घंटा आदमी के पहिचानने के लिए काफी नहीं हैं लेकिन जान पड़ता है खुलकर बातें करते सुनते एक दूसरे के ऊपर विश्वास करने की भूमिका तैयार हो गई थी। महमूद के पिता बड़े व्यापारी थे। कलकत्ते के अस्फहानी ब्रादर्स के पिता और वह दोनों सगे भाई थे। दोनों का कारबार भी बहुत दिनों तक साथ में था। उनका कारबार विलायत तक था। रुपया कमाने और उड़ाने दोनों में वह बड़े बहादुर थे। मदिरा मदिरेक्षणा के अनन्य साधक थे जिसके लिए अत्यन्त उपयुक्त स्थान समझकर युरोप में उन्होंने तहरान का निवास स्वीकार लिया था। उड़ाते-उड़ाते भी उन्होंने चार-पाँच लाख की जायदाद तहरान नगर में अपने मरने के समय (१९४३ ई०) छोड़ी थी। लड़ाई के समय चीनी का भाव बहुत बढ़ गया खासकर ईरान में तो वह सोने के मोल बिक रही थी। बूढ़े सौदागर को इसका आभास पहले ही मिल गया था और उन्होंने दसियों हजार बोरा चीनी हिन्दुस्तान से मँगाली जिसमें तरह चौदह लाख रुपये का नफा हो गया। चीनी के बोरे हिन्दुस्तान की सीमा (नोक्कुंडा) में आकर अटके हुए थे जहाँ से निकाल लाने के लिये पिता ने कलकत्ते से महमूद को बुलाया। महमूद ने चीनी पार कराई। वह रहे थे यदि वह चीनी आज रही होती तो नफा एक करोड़ का होता। महमूद के तहरान पहुँचने के पाँच मास बाद पिता मर गये। अब उनकी जायदाद का बँटवारा और उसमें से अपना हिस्सा लेने की समस्या महमूद के सामने थी। उनके सौतेले भाइयों और बहनों की संख्या काफी थी जिनमें से कुछ भारत में और कुछ ईरान में थे।

१७ नवम्बर तक हम दोनों का परिचय घनिष्ट मित्रता में परिणत हो गया था। महमूद खुले दिल के आदमी थे जिसका यह अर्थ नहीं कि समय में कमर रखते थे। मेरे भीतर भी उन्होंने कुछ समानता देखी और यह जानने में भी दिक्कत नहीं हुई, कि मैं किस कठिनाई में पड़ा हूँ। मेरे पास दो-तीन ताले मानें तथा एकाध और चीजें थीं जिनके बचने की मैं सोच रहा था। इसी समय महमूद ने कहा—चलो फकीरों की झोपड़ी में, सवाब

मत करो। उनके फक्कड स्वभाव से भी मैं परिचित हो चुका था। तेहरान विश्वविद्यालय के समीप ही तिमहले पर दो कोठरियाँ उन्होने ले रखी थी। बहुत मामूली सामान था। एक नौकरानी (रुक्या) थी जो खाना बना दिया करती थी। महमूद नौ बजे दफ्तर चले जाते थे उन्होने एक ईरानी सौदागर के साथ कुछ कारबार शुरू किया था। मैं या तो चीजो के लिए कोशिश करने ब्रिटिश तथा सोवियत-दूतावास का चक्कर लगाता या कही से कुछ पुस्तकें पढ़ा करके पढ़ता। महमूद के आने पर कभी हम दीमियाद साहब के यहाँ जाते और कभी दाइउल इस्लाम के यहाँ। उनकी सौतेली माँ और पिता के घर भी जाते थे। उस समय युद्ध के कारण तेहरान मे भारतीय सेना भी काफी संख्या मे मौजूद थी इसलिए कभी-कभी भारतीयों से भी मिलने चले जाते। तेहरान मे अमेरिकन, अंग्रेज़ी, फ्रेंच और रूसी ही नहीं कुछ हिन्दी फिल्म भी दिखाये जाते थे। हिन्दी फिल्मों मे "पिस्तौल वाली" जैसे बहुत नीचे दर्जे के फिल्म ही अधिक थे।

एक दो सप्ताह तो मुझे यह बहुत बुरा मालूम होता था —कि मैं क्या अपने दोस्त पर अपना भार डाल रहा हूँ, किन्तु पीछे उनके स्वभाव से अधिक परिचित होने के बाद वह संकोच जाता रहा। दाइउल इस्लाम की ज्येष्ठ कन्या ज़ाहिरा ने एक दिन उस्मानिया विश्वविद्यालय के एम० ए० के अपने निबंध को सुनाया। मुल्ला या पुराने पंडितो जैसी खोज थी— अशोक ऐरेश्वरवादी था। वह ईरान के अखामनी (दारा) खानदान मे पैदा हुआ था। उसने परसेपोलिस के बारोगरो को बुलाकर भारतवर्ष मे इमारतें बनवाई थीं। अशोक का दादा चन्द्रगुप्त ईरान के नगर मूर्र मे भाग कर आया था, जो कि परसेपोलिस (तख्तजम्शीद) का ही दूसरा नाम था। अशोक बौद्ध नहीं था। अजन्ता की गुफायें बौद्ध विहार नहीं थे, बल्कि पुरु-कोशी और दूसरे दक्खिनी राजाओं की चित्रशालायें हैं जिनमे उनकी वास्तविक जीवनी और इतिहास लिखा हुआ है। उनका बुद्ध और बौद्ध भिक्षुओ से कोई सम्बन्ध नहीं बुद्ध ने तो चित्र और मूर्तियाँ बनानी मना कर दी थीं, फिर बौद्ध भिक्षु इन्हें कैसे बना सकते थे? यह शृंगारी मूर्तियाँ और चित्र बौद्ध भिक्षुओ के बनाये कभी नहीं हो सकते। मैंने बड़े धैर्य से ज़ाहिरा खानम के निबंध को सुना। मुझे आश्चर्य होता था उसमानिया विश्वविद्यालय के

उस प्राफेसर के ऊपर जिसकी देखरेख म यह निबन्ध लिखा गया।

डाइउल इस्लाम साहब अरबी फारसी ही नही सस्कृत भी काफी जानते थे। वह तेहरान विश्वविद्यालय म सस्कृत पढा सकते थे किन्तु धोबी बस के का कर दीगम्बर के गाव' वाली कहावत थी। उनके पास भी काफी समय था मेरे पास भी कोई काम नही था और महमूद का भी थोडा ही काम था। इसलिए हर दूसरे-तीसरे हम लोग दाइउल इस्लाम के यहाँ पहुँच जाते थे। अभी भी लोग महमूद स निराश नही थे। महमूद की बीवी मर चुकी थी किन्तु उनके बच्चे कलकत्ते म थे जिनमे पिता का काफी प्रेम था। वह विवाह करने के लिए पहिले एक परी की आँखो के शिकार हुए। उसने भी कई महीने उन्हे अपने प्रेम पाश से बाँध रखा, किन्तु उसके माँ-बाप राजी नही हुए। लाचार हो उसे उनकी आना क सामने झुकना पडा। अब महमूद के सामने पाँच लडकियाँ थी। ताहिरा को वह ज्यादा पसन्द करते किन्तु मेरे आने पर वह समझने लगे कि वह स्वतन्त्र प्रकृति की नारी है उससे नही निभेगी। जाहिरा को वह कहते थे—यह काठ का कुन्दा है जिसे नमाज पढने से ही फुरसत नही। हमारी उसके साथ सवेदना थी क्योकि वह पचास साल की हो चुकी थी। उसका एक ईरानी चचेरा भाई जो बढई का काम करता था विवाह करने के लिए तैयार था, किन्तु जाहिरा ने उसे इन्कार कर दिया। मझली मिहीशा (एम एस सी) शुद्ध ईरानी खेत रक्त का चाहती थी और पिता तो 'बडी लडकी की शादी हुए बिना उसकी शादी कैसे करें' का बहाना कर देते थे। सौतेली माँ की छोटी बहन पढी लिखी नही थी, किन्तु अठारह वर्षीया सुन्दरी नारी थी। महमूद का खयाल उस पर नही जाता था। क्योकि सौतेली माँ के परिवार पर उनका विश्वास नही था बयालीस तथा अठारह बरस के अतर का भी खयाल आता था। मैं बाज वक्त कह देता था—कि आदर्श पत्नी तो जाहिरा ही हो सकती है। किन्तु जब तक दूसरा नवतरुणियाँ हैं तब तक इस शुष्क विरतरुणी को कौन पूछेगा? दाइउल इस्लाम के पडोस म एक और सुशिक्षित सस्कृत महिला थी जिसे मनुष्यावेणी काव्यमयी सुन्दरी कहा जा सकता था किन्तु उनका सम्बन्ध हुआ था ऐसे आदमी के साथ जिसे देखकर महमूद आश्चर्य करते थे। मैंने कहा—अल्लामियाँ अपनी गन्हा के सामने

अंगूर फँसता है इसमें हमारा तुम्हारा क्या ?

मेरे आने के महीने भर बाद महमूद की सौतेली माँ से सुलह हो गई। यद्यपि वह चाहते थे कि भाइयों की सहायता करें, किन्तु वह जायदाद के सम्बन्ध में चालें चल रहे थे। फिर उनको क्या पड़ी थी ख्वामख्वाह परदेश में आकर झगड़ा मोल लेते ? सुलह का मतलब था—अब शादी इज्जत से होगी। वह मानते थे—कि वह सुन्दर तरुणी है शिक्षित न होने पर भी और गुण उसमें हो सकते हैं, किन्तु वह शीराज के उसके खानदान पर विश्वास करने के लिए तैयार नहीं थे। लेकिन उनके पिता आगा हाशिम अस्फहानी भी तो उसी खानदान में शादी कर चुके थे।

दिसम्बर के अन्त तक मैं आर्थिक तौर से अब निश्चिन्त हो चुका था। मेरे मित्र सरदार पृथ्वीसिंह ने बम्बई से हजार रुपये भेज दिए थे, उधर प्रकाशक से भी [illegible]०० रुपये आ गये थे। जरूरत पड़ने पर और भी रुपये आ सकते थे। जब सुलह हो चुकी और छोटी बहन के साथ ब्याह की भी बात तय-सी हो चुकी और सौतेली माँ जोर देने लगी—कि यहीं चले आओ, क्या अलग रहकर अपना खर्च बढ़ाते हो। १६ दिसम्बर को चारों ओर बरफ फैली हुई थी। आठ-नौ बजे तक हिमवर्षा जारी थी। उसी दिन ग्यारह बजे सामान घोड़ागाड़ी पर लदवा कर हम नाजिमुत्तुज्जार आगा हाशिम अली अस्फहानी के घर पर चले आए। अब से पाँच महीने के लिए इस्मत खानम् का यह मकान मेरा भी निवासस्थान बन गया। महमूद अकेले रहते थे, तब तो उनके स्वभाव से परिचित हो जाने के कारण संकोच का कारण नहीं था, किन्तु यहाँ मेरे सामने फिर समस्या आई—अनिश्चित काल के लिए कैसे मेहमान बनूँ। मेरे पास अब पैसा भी था, किन्तु भारतीय शिष्टाचार की तरह पैसा देने वाला मेहमान रखना यहाँ भी शान के खिलाफ समझा जाता है। भवितव्यता के सामने सिर झुकाना पड़ा। मैं इस्मत खानम् की मेहमानी का प्रतिशोध रुपये पैसे से नहीं कर सकता था। वस्तुतः यह घर थोड़े ही दिनों बाद मेरा घर हो गया। घर के सभी लोगों के बारे में तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु गृहस्वामिनी का बर्ताव बहुत ही गम्भीर और मधुर था। इन पाँच महीनों में एक ईरानी मध्यवर्गीय परिवार में चौबीसों घंटे रहकर मैंने उन्हें बहुत नजदीक से देखा। इस्मत खानम्

सितार बहुत सुन्दर बजाती थी जिससे प्राय रोज ही रात के भोजन के बाद हमारा मनोरंजन हुआ करता था। महमूद जब इज्जत के साथ विवाह करने को तयार हो गए तो फिर उनकी बडी बहन ने सौदा करना शुरू किया। यह कोई बुरी बात नही कही जा सकती। जिस देश मे पुरुष किसी भी वक्त स्त्री को तलाक दे सकता है वहाँ यदि आर्थिक सुरक्षा की चिन्ता की जाए तो क्या आश्चर्य है? दिसम्बर के अन्त मे मोहरम का पवित्र महीना आ गया। ईरान शीया देश है। वहा इमाम हुसन की शहादत (वीरगति) का बहुत मातम मनाया जाता है। २५ दिसम्बर को उस साल इमाम हुसन का रोजेकत्ल और ईसा का भी जन्म दिन था। नवीन ईरान मे अब मोहरम के लिए स्त्रियो का 'गिरिया' (रोदन) और पुरुषो की 'सीनाजनी' (छाती पीटना) अब बन्द कर दिया गया है। खानम् के घर मे एक दिन एक मुल्ला १५ मिनट के लिए आया। उसने कुछ मर्सिया गाये और खानम् ने कपडे मे मुह छिपाकर रोदन किया।

अब मेरी दिनचर्या यी। सबेरे सात-साढे सात बजे उठकर हाथ मुह धोना हजामत से निबट फिर परिवार के साथ पनीर मक्खन रोटी और तीन गिलास बिना दूध की मीठी चाय पीना। आठ-नौ बजे के करीब मैं उस कमरे मे पहुच जाता था जहाँ कुर्सी के नीचे परिवार के लोग बठे रहते थे। सरदी के कारण मकान को गरम करने की आवश्यकता होती है किन्तु मध्य एसिया अफगानिस्तान और ईरान मे लकडी दुर्लभ है, इसलिए लोगो ने 'कुर्सी' का तरीका निकाला। गज भर लम्बी गज भर चौडी हाथ भर ऊची चौकी कुर्सी है जिसके ऊपर चौकी से दो-दो हाथ बाहर निकली मोटी रजाई रख दी जाती है। चौकी के नीचे अँगीठी मे कोयले की आग रहती है जिसमे कुर्सी गरम हो जाती है। लोग उसी चौकी के चारो ओर मसनद के सहारे बठकर छाती तक शरीर को रजाई के नीचे डुबा देते हैं। बहुत कम खर्च मे गरम रखने का यह सुन्दर तरीका है। कुर्सी के नीचे बठे बैठे पढना या गप्प मारना यही काम था। मेरे लिये तो इन गप्पो से भी बहुत लाभ था, क्योकि वहाँ केवल फारसी मे ही बात हो सकती थी। एक बजे रसोईदारिन भोजन तयार करके लाती थी जिसमे तन्दूर की मोटी रोटियाँ चावल या पुलाव, गोश्त या भाजी, कुछ हरी पत्तियाँ सिरका या

मिरकावाली प्याज मुख्य तौर से रहते थे। यदि बाहर जाना नहीं होता, तो मध्याह्न भोजन के बाद, फिर वही पढ़ना लेटना या बात करना तीन चार बजे फिर दो-तीन गिलास मीठी चाय पीने को मिलना। शाम सात-आठ बजे रात्रि भोजन होता था जिसमें चावल, मास, सब्जी, सिरका रोटी, कबाबासा (सौसेज) मुख्य होता। भोजन के बाद पोतगाल (मुसम्बी) या कोई दूसरा फल भी रहता। फिर ग्यारह-बारह बजे रात तक संगीत या गप छिड़ी रहती। महमूद के साथ मेरा और मेरे साथ महमूद का दिल बहलाव ही नहीं होता था, बल्कि हम एक-दूसरे की चिन्ता में सहायक होते थे। ब्याह का सौदा कभी-कभी बड़ा रुख ले लेता, उस वक्त महमूद बहुत घबड़ा उठते।

जनवरी के अन्त में भी सरदी काफी थी। ईरानी बच्चे सूर्य देवी से प्रार्थना करते थे—

खुर्शीदखानम् आफताब कुन्। यकसेर बिरंज तूय-आब कुन्।
(सूर्य देवी धूप कर। एक सेर चावल पानी में डाल।)
मा बच्चहये गुर्ग ईम्। अज़-सरमाय मी मुरेम।
(हम बच्चे भेड़िया के हैं। सरदी से मर रहे हैं)

लेकिन खुर्शीद खानम् में अभी इतनी शक्ति नहीं थी कि बच्चों को आफताब (धूप) दे सके। २८ मार्च को भी चिनार सफेद अंगूर आदि में कहीं पत्ता का चिह्न नहीं था। ६ अप्रैल को सफेदे के वृक्षों में अभी पत्ते कलियों की शकल में फूट रहे थे। हाँ, कुछ दूसरे वृक्षों में हरे पत्ते निकल आये थे।

एक दिन इस्मत खानम् महमूद के नमाज न पढ़ने की शिकायत कर रही थी—'गुनाह अस्त बराय हर मुसल्मान नमाज लाजिम अस्त" (पाप है, हर एक मुसल्मान के लिए नमाज पढ़ना कर्त्तव्य है)। मेरे मुँह से निकल गया—'हर कसे कि शराब न मीखुरद, बराय उन नमाज माफ अस्त। (जो कोई शराब नहीं पीता उसके लिए नमाज माफ है)। मुझे नहीं मालूम था कि मैंने खानम् के किसी मर्म-स्थान पर चोट पहुँचाई। उन्होंने बड़े उत्तेजित स्वर में कहा—'तू पैगम्बर हस्ती,' (तुम पैगम्बर हो?) उस वक्त ३४-३५ वर्षीया सुन्दरी का तमतमाता चेहरा देखने लायक था। अभी

सवेर की चाय का वक्त था ओठो पर अधर राग नही चढा था, न गालो पर पौडर और रूज न अपना रग जमाया था। गरम लोहे से घुघराले किए बालो म कघी नही फिरी थी और न मोती की दुलडी तथा हीरे की गुच्छेदार सेफ्टीपिन सीन पर रखी गई थी। चेहरा फीका होना ही था, क्योकि उसे चमकाने के लिए अपेक्षित बनाव शृगार चाय पीने के बाद की चीज थी। खानम् की जलाप्लुत बडी बडी आँखो म सुर्खी उतर आई थी। उनके उत्तेजित स्वर म कुछ क्रोध का भी भास हो रहा था। उनको कहना चाहिए था 'शुमा (आप)'। और मैं खुदा नही था क्योकि नमाज़ माफ करने का काम खुदा का ही है। फिर वह सँभल कर नरमी स कहने लगी—दुनिया म इस्लाम सबसे अच्छा और अन्तिम मजहब है। फिर क्या खुदा और इस्लाम पर उपदेश देने लगी। महमूद और आगा दीमियाद जानते थे कि मैं व्रज नास्तिक हूँ किन्तु खानम् को यह बात मालूम नही थी। वह जानती थी कि मैं शराब नही पीता बुद्ध मजहब का मानने वाला हूँ। बुद्ध मजहब क्या है इसका भी उन्हे पता नही था। मुझे तो अपनी असावधानी पर अफसोस हो रहा था। छैलछबीली इस्मत खानम् शराब की बहुत शौकीन थी किन्तु नमाज प्राय रोज एक दो बार पढ लेती थी। नमाज पढने वाले के लिए शराब पीना माफ है यदि यह कहता तो वह पसन्द करती। वैसे वह बडे कोमल हृदय की महिला थी। इमाम हुसन के सम्बन्ध म मर्सिया सुनते वह रोया करती थी। जब मैंने अन्त म किसी दूसरी ही जगह जाकर रहने का निश्चय कर लिया—पाँच महीने रहने के बाद भी अभी बीजा का कही ठौर ठिकाना नही था—तो वह बडी चिन्तित हो गई और जरा-सा ज्वर आ जाने पर अपनी नौकरानी को सेवा के लिए भेजा।

दो दोस्त

दो दोस्त से मतलब यह नही कि वह आपस म दोस्त थे। शायद मेरे मिलने से पहले दोनो ने एक-दूसरे को देखा भी नही था। दोनो का जन्म बगाल म हुआ था एक का कलकत्ता म और दूसरे की तीन चार पीढियो की कब्रें हुगली म कही पर है। सोलह सत्रह साल म फाटो कमरा मेरा अभिन्न सहचर हो गया था। किन्तु १९४४ के अक्तूबर म जब हिन्दुस्तान

की सीमा पार करने लगा, तो कैमरे को ववटा में ही छोड़ जाना पड़ा। इस प्रकार मैं तीसरी बार ईरान में अवके बिना कैमरे हो के दाखिल हुआ था। और अपने इन दोनों दोस्तों का चित्र नहीं ले सका।

(१) दीमियाद—दोनों में एक सत्तर के करीब पहुँच रहा था और दूसरा तीस साल से कुछ ही ऊपर। बूढ़े आगा अमीर अली दीमियाद सौजन्य और सरलता की साक्षात् मूर्ति थे किन्तु साथ ही कुछ आदर्शवादी टाइप के आदमी थे, जिसके कारण बुढ़ापे में हिन्दुस्तान को छोड़कर उन्हें ईरान जाना पड़ा। माना कि वह मूलतः ईरानी थे यहीं नहीं अपने ईरानी पन को जागृत रखने की उनके खानदान में कोशिश की गई थी। कह नहीं सकता उनके घर में हिन्दुस्तान में भी फारसी बोली जाती थी या नहीं। स्वयं दीमियाद साहब तो फारसी एक बोलते थे जैसे कि वह उनकी मातृ भाषा हो। उनकी पत्नी बेगम दीमियाद उम्र में उनसे बीस-बाईस बरस कम मालूम होती थीं। हो सकता है दोनों की आयु में इतना अन्तर न हो, और अपनी बोली के कारण खानम दीमियाद कम उम्र की लगती हों। वह भी हिन्दुस्तान में पैदा हुई थीं। मैं जब उनके यहाँ जाता, तो वह कोशिश करतीं कि कोई हिन्दुस्तानी खाना खिलाएँ। एक दिन हँसी-हँसी में कह रहीं थीं—मेरा तो अवध के एक ताल्लुकदार से विवाह होने वाला था। तरुणाई में निश्चय ही वह सुन्दरी होंगी। दीमियाद-दम्पती की सन्तानें एक लड़का और एक लड़की थीं, जिनकी नसों में माता पिता से अधिक ईरानी खून जोर मार रहा था। जब उन्होंने सुना और पढ़ा कि रजाशाह पहलवी नवीन ईरान का निर्माण कर रहा है, सासानियों और अखामनियों का ईरान फिर से प्रकट हो रहा है, तो उन्हें भारत में रहना पसन्द नहीं आया। सन्तान के आग्रह के कारण दीमियाद साहब अपनी सम्पत्ति को बेच-बाचकर तहरान चले गए। वह व्यवहार-कुशल थे, इस पर मेरा कम विश्वास है किन्तु उन्होंने यह अच्छा ही किया, जो तहरान में अपने लिए एक घर बनवा लिया। अपनी पहिली ईरान-यात्रा (१९३५) में जब मैं उनसे मिला, तो अभी घर पूरा नहीं बन सका था उस समय घर के आसपास उजाड़ भूमि पड़ी हुई थी। लेकिन नौ बरस बाद अब तहरान बहुत बढ़ चुका था और वहाँ पर अच्छा खासा मोहल्ला आबाद हो गया था। अब इस दुनियाँ

म आगा दीमियाद कन्हान की आशा नही है आर यदि उनका खुदा ठाक है ता वह उमक वहिश्त म वही अच्छे घर म हांगे जा उनक तेहरान वाले घर से बुरा ता नही हागा। मेरा उनके साथ बहुत घनिष्ट सम्बन्ध हो गया था। आश्चय ता यह कि हम दोनो के विचारो म जमीन-आसमान का अन्तर था। उन्ह कट्टर मुसल्मान ता नही कहना चाहिए क्योंकि उनम असहिष्णुता छू नहा गइ थी लेकिन पक्क खुदा क बन्दे थे। बुढापे म उनक लिए चलना फिरना आसान काम नही था ता भी शायद ही कभी नमाज नागा होती हो। उधर मैं खुदा को सीधे फटकारता था। वह जानते थे कि यदि खुदा मुझे मिल जाता तो मैं उसके मुह पर भी चार सुनाए बिना नही रहता। तब भी वह मुझे अपना सगा सा समझते थे। जब सात महीने की प्रतीक्षा के बाद मैं रूस जाने लगा था तो उन्होने एक लिफाफा मरे हाथ म चुपके से रख दिया उसम अग्रेजी म लिखी एक कविता थी जिस दीमियाद साहब ने स्वय रचा था उसम मेरे बारे म कसीदाख्वानी की गई थी।

दीमियाद साहब सुपठित और सुसस्कृत पुरुष थे। उनके पिता एक अच्छे डाक्टर थे अच्छी सरकारी नौकरी म थे। पुत्र का विलायत भेजा था कि वहाँ स बरिस्टर होकर आएँगे लेकिन पिता की मृत्यु क बाद लडके को पढाइ बीच ही म छाड कर चला आना पडा। अधिकतर उनका सम्बन्ध कलकत्ता से था किन्तु अन्त म वह लखनऊ म चले आए थे। फारसी तो उनके घर की भाषा थी। लखनऊ शिया कालेज म रहने का ख्याल आया, कि उर्दू म एम० ए० कर लें। लखनऊ या आगरा युनिवर्सिटी स एम० ए० करना मुश्किल था। दीमियाद साहब कह रह थे—मैंने साचा कि कलकत्ता अच्छा रहगा। पढ़ा ता था ता तेरह-बाईस ही लेकिन परीक्षार्थी कम थे अध्यापक का उनका उत्साह बढाना था अन्यथा परीक्षार्थियो के अभाव म कही उनके अपने सिर पर आफ्त न आवे। खर दामियाद साहब पास हो गए और कॉलिज छाडन क शायद बीस बरस बाद। एक दिन वह कह थे—यम्बस्त ट्रेन ने धाखा दे दिया नहीं ता बरिस्टर न सही, पी एच० डी० ता बन हो जाता। जमनी या हालैंड क किसी शहर का नाम बतला रहे थे जहाँ पी० एच० डी० की डिग्री डाकखान क टिकट की तरह सुलभ थी।

नौ साल पहले मिलने पर दीमियाद साहब म अभी पूरी क्रिया शक्ति